1961G Misinterpretation of Sammyak

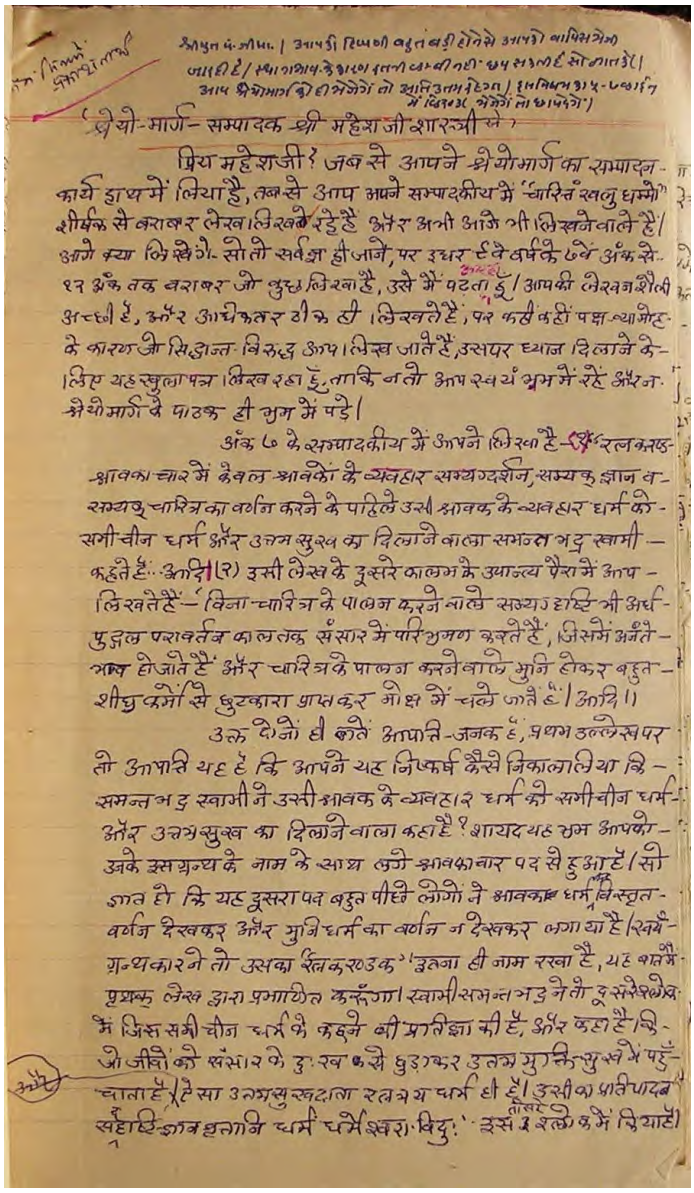

श्रीयुत पं. जी महा. | आपकी चिट्ठी बहुत बड़ी होनेसे आपको बाधित होना जाती है / स्थानाभाव के कारण इतनी लम्बी नहीं छप सकती है सो जानते हो। आप श्रेयोमार्ग को ही भेजेंगे तो अधिक उत्तम है। इसमें छपने में विलम्ब भी नहीं होगा। भेजेंगे तो छापेंगे।

(श्रेयो-मार्ग- सम्पादक श्री महेशजी शास्त्री से।

प्रिय महेशजी? जब से आपने श्रेयोमार्ग का सम्पादन-कार्य हाथ में लिया है, तब से आप अपने सम्पादकीय में 'चरितं खलु धम्मो' शीर्षक से बराबर लेख लिखते रहे हैं और अभी आज भी लिखने वाले हैं। आगे क्या लिखेंगे- सो तो सर्वज्ञ ही जाने, पर इधर ६ वर्ष के ७ वें अंक से १२ अंक तक बराबर जो कुछ लिखा है, उसे मैं पढ़ता हूँ / आपकी लेखन शैली अच्छी है, और आचरण तो ठीक ही। लिखते हैं, पर कहीं कहीं पक्ष व्यामोह के कारण जो सिद्धान्त विरुद्ध अंश। लिख जाते हैं, उसपर ध्यान दिलाने के लिए यह खुला पत्र लिख रहा हूँ, ताकि न तो आप स्वयं भ्रम में रहें और न श्रेयोमार्ग के पाठक ही भ्रम में पड़े।

अंक ७ के सम्पादकीय में आपने लिखा है- "रत्नकरण्ड श्रावकाचार में केवल श्रावकों के व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र का वर्णन करने के पहिले उसी श्रावक के व्यवहार धर्म को सच्चा धर्म और उत्तम सुख का दिलाने वाला समन्तभद्र स्वामी — कहते हैं: आदि। (२) इसी लेख के दूसरे कालम के उपान्त्य पैरा में आप — लिखते हैं — 'बिना चारित्र के पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि भी अर्ध-पुद्गल परावर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं, जिसमें अनंते — भव हो जाते हैं और चारित्र के पालन करने वाले मुनि होकर बहुत — शीघ्र कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर मोक्ष में चले जाते हैं। आदि।)

उक्त दोनों ही बातें आपत्ति-जनक हैं, प्रथम उल्लेख पर तो आपत्ति यह है कि आपने यह निष्कर्ष कैसे निकाल लिया कि — समन्तभद्र स्वामी ने उसी श्रावक के व्यवहार धर्म को सच्चा धर्म और उत्तम सुख का दिलाने वाला कहा है? शायद यह भ्रम आपको उनके इस ग्रन्थ के नाम के साथ लगे श्रावकाचार पद से हुआ है। सो ज्ञात हो कि यह दूसरा पद बहुत पीछे लोगों ने श्रावक धर्म विस्तृत-वर्णन देखकर और मुनि धर्म का वर्णन न देखकर लगाया है। स्वयं ग्रन्थकार ने तो उसका 'रत्नकरण्डक' इतना ही नाम रखा है, यह बात मैं पृथक् लेख द्वारा प्रमाणित करूँगा। स्वामी समन्तभद्र ने तो दूसरे श्लोक में जिस सच्चे धर्म के कहने की प्रतिज्ञा की है, और कहा है कि — जो जीवों को संसार के दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचाता है / तं सा उत्तमसुखदाता रत्नत्रय धर्म ही है। उसी का प्रतिपादन सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इस तीसरे श्लोक में किया है।

यहाँ यह आशंका की जासकती है कि फिर इस ग्रन्थ में सकल चारित्ररूप मुनि धर्म का वर्णन क्यों नहीं किया गया? सो इसका समाधान मैं अपने शब्दों में करूंगा, और दिखाऊँगा कि उन्होंने इसी ग्रन्थ में ही मुनि धर्म का भी वर्णन करदिया है, जो कि "श्रावकाचार" पद छुड़ाने से मिलेगा। वो दिखाई नहीं देता।

दूसरी आपने आप के इन शब्दों पर है..... सम्यग्दृष्टी की अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं.... आदि। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि जीव अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण नहीं करता है। ग्रन्थों के सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम ही बताई गई है। वह जीव अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण करता है। जिससे एक बार अन्तर्मुहूर्त के लिए भी उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होजाय और तुरंत ही छूट जाय ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव ही अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, और सम्यग्दृष्टि जीव सातवें वर्ष के अंक के उस वीर्षक में अपने समादकीय लेख के प्रथम कालम के दूसरे पैरा में आप लिखते हैं —

"यह निश्चित है कि चारित्र के बिना आत्मा का उत्थान त्रिकाल में भी होने वाला नहीं है। आदि। उक्त

उक्त वाक्य लिखते हुए आपको उचित था लिखना कि "उत्थान" — शब्द खटका; अतः कोष्ठक में उसी के अर्थ में कर्मों का नाश लिखा दियाहै। सो श्री महेशजी को ज्ञात होना चाहिए कि सम्यक्त्व रहित चारित्र से तो त्रिकाल में भी उत्थान होने वाला नहीं है। क्या आप नवमें ग्रैवेयक तक पहुँच जाने को ही उत्थान समझ रहे हैं। यदि कर्मों के नाश को ही उत्थान समझते हैं, तो वह तो सम्यक्त्व-सहित चारित्र से ही होगा, सम्यक्त्व-शून्य कोरे चारित्र से नहीं।

उसी दूसरे लेख के अग्रिम पेज के द्वितीय कालम के प्रथम पैरा में ही लिखते हैं — उससे सिद्ध है कि — कार्य करने का संकल्प भी व्यवहार में गर्भित है, निश्चय में नहीं, और इससे आगे एक प्रश्न को उठाकर उसके समाधान में लिखते हैं — .... सारे सिद्धान्त उलट जावेंगे अब तक तो एंजिन पिछे रखीजाता था, अब पिछे एंजिन को रखीं जावेंगे। आदि॥

आचार्य महेशजी, संकल्प या निश्चय की दृढ़ता ये दोनों एकार्थवाची शब्द हैं। जिसे शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वरूप का दृढ़ निश्चय होता है, ऐसे संकल्प वाला सम्यक्त्वरूप ऐंजिन ही डिब्बों को खींच सकता है, बिना पॉवर के शक्ति-शून्य ऐंजिन डिब्बों को नहीं खींच सकता।

जनवरी के श्री वीर अर्जुन के उक्त शीर्षक सम्पादकीय लेख में चक्रवर्ती सिद्धान्त का उद्धरण देकर जो आपने व्रत को असंख्यात गुणी निर्जरा का कारण बताया है, सो आपको ज्ञात होना चाहिए कि — सम्यक्त्व सहित व्रत ही असंख्यात गुणित श्रेणी निर्जरा का कारण होता है न कि सम्यक्त्व शून्य व्रत। मिथ्यादृष्टि जीव कितना ही घोरातिघोर तप करे और महान् से भी महान् व्रतों को धारण करे - उसके कभी भी असंख्यातगुणित-श्रेणी वाली निर्जरा नहीं होती है, आदिक नहीं तो तत्त्वार्थसूत्र के जो अध्याय के ४५ वें सूत्र की ही टीका देखलीजिए- सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव को ही सर्वप्रथम निर्जरा का भान कहा है। आजकी के स्थान सम्यक्त्व सहित के ही होते हैं, सम्यक्त्व रहित के नहीं। इसी सूत्र के अर्थ का प्रतिपादन सोमदेव सूरि और सिद्धान्तग्रंथों में किया गया है।

आशाधरजी ने भी कहा है :—

सम्यक्त सर्वप्रधान, जिन तारा मां है चन्द्रमा ए पशुओं मांहे जिमसिंह- देव मां है जिम इन्द्र तो ए तरु मांहे जिम कल्पवृक्ष, रतनमांहे जिम चिन्तामणि ए रस मांहे जिम अमृत धर्म मांही जीव जहाज ए ॥

आपने पुनः दिसम्बर के अंक में अपने सम्पादकीय लेख में चारित्र- की महत्ता बताते हुए सम्यग्दर्शन के लिए कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं करना चाहिए था। दृष्टान्तस्वरूप ४ पैरा में ५ में आप लिखते हैं कि सम्यग्दृष्टि वाला में स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता, और चारित्रवान् मुनि सम्यक्त्व के अभाव में या सम्यक्त्व के छूट जाने पर भी जब में ग्रैवेयक तक जा सकता है तो बताईये किसकी गति अधिक रही? आदि।

श्री महेशजी को ज्ञात होना चाहिए कि ऐसे सम्यक्त्व- रहित या सम्यक्त्व से भ्रष्ट मुनि बन करके जीव अनंत बार जाने ग्रैवेयक तक जा चुका है, पर उससे क्या आत्मशुद्धि हुई? आज- तो वह दरिद्र बना हुआ ही संसार में भटक रहा है। पर जिसके हाथ में केवल एक सम्यक्त्व रत्न ही आजाता है तो वह इस भव से नहीं तो बहुत ही शीघ्र मुक्ति को अवश्य प्राप्त करेगा।

इसी बात को ध्यान में रख कर कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है :—

दंसण भट्ठा भट्ठा दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरिय भट्ठा दंसण भट्ठा ण सिज्झंति ॥३॥ दर्शन पाहुड

अर्थात् सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। और जो आपने अपने लेख में चारित्र के गुण गाये हैं, सो चारित्र तो वही देव इन्द्रादिक कर पूज्य होता है जो कि सम्यक्त्व-सहित है। सम्यक्त्व रहित चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है, वह देवेन्द्रादिकों से पूज्य नहीं है।

इसी लेख के चौथे पेज के प्रथम कालम के दूसरे पैरा में आप लिखते हैं, देव और इन्द्र अगर किसी अव्रती सम्यग्दृष्टि की पूजा करते हैं तो कोई विशेष कारण होने से करते हैं जैसे तीर्थंकर या चक्रवर्ती हो तो उनका परम पुण्य देवों द्वारा वंदनीय का कारण है... आदि। सो आपको ज्ञात होना चाहिए कि परम पुण्य वही कहलाता है जो कि सम्यक्त्व-सहकृत हो। अन्यथा उसे परम या सातिशय पुण्य नहीं कह सकते। रही चारदत्त या जीवन्धर आदि की यक्षादि देव के द्वारा प्रशंसादि, सो वह तो उपकार का कृतज्ञतापन आदर सत्कार आदि है, न कि जिन देवादि के समान पूज्य बुद्धि से की गई पूजा वन्दनादि है। यदि इस व्यवहार में किसी को फूल माला अर्पण करते हैं तो क्या वह जिन देवादि के सदृश मानी जायेगी।

लेख के अन्त में आप लिखते हैं — सम्यक्त्व तो मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी ही है, जैसे एम.ए. तक पढ़ने वाले छात्र के लिए ए.बी.सी. डी की कक्षा। यह लिख कर तो आपने अपने शास्त्रों के ज्ञान की पूर्ण महत्ता ही प्रकट कर दी? इन शब्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि आपने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बिल्कुल ही नहीं किया है। अन्यथा आप ऐसे हल्के फुल्के शब्द नहीं लिखते। आप को ज्ञात होना चाहिए कि सम्यक्त्व रहित चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है, और वह अनंत संसार का ही काटने वाला होता है। जब कि एक बार अन्तर्मुहूर्त के लिए उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन अनंत संसार का निश्चय छेदक या अन्त करने वाला होता है, फिर अविरत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व अनंतानुबंधी चतुष्क स्त्यान गृद्धित्रिक, नरक तिर्यंच गति आयु आदि महा पाप वाली ६१ प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध होता ही नहीं है। किन्तु सम्यक्त्व-रहित परम तपस्वी भी साधु उन सब का बन्ध करता रहता है।

इसी बात के लक्ष्य में रखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महर्षियों ने कहा है:—

जं अण्णाणी कम्मं खवेई, भव सय सहस्स कोडीहिं।
णाणी तिगुत्तिगुत्तो खवेई, तं अंतो मुहुत्तेण ॥३, ३८ प्रवचनसार

और पं० दौलतरामजी ने उसी के भाव को इसप्रकार प्रगट किया है—

कोटिजन्म तप तपे ज्ञान विनु कर्म झरे जो।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरे ते।

यहाँ अज्ञानी से अभिप्राय सम्यक्त्वरहित और ज्ञानी से सम्यक्त्व सहित व्यक्ति से ही है, जैसा कि जैसा आप समझ रहे हैं उससे है।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी आपको ज्ञातव्य है कि अविरती, देशव्रती, सकलव्रती छठे सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु के बंधने वाली प्रकृतियों में तो जरूर कमी पड़ती है, पर बंधने वाले कर्मों की स्थिति के बन्ध में उन्नीस बीस जैसा ही अन्तर पड़ता है रहता है। अर्थात् चौथे से सातवें गुणस्थान तक सभी जीवों के बंधने वाली प्रकृतियों का स्थिति बन्ध अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्रमाण ही होता है।

चारित्र की भी उत्पत्ति। स्थिति, वृद्धि और फल प्राप्ति उसमें नहीं (रत्न क० श्लो० ३२)

अरे महेशजी, आपने चारित्र और संयम के गुणगान करने में पृष्ठ के पृष्ठ भर दिये, सो उससे कौन इंकार करता है। आपत्ति तो आप के द्वारा सम्यक्त्वरहित चारित्र के गुणगान करने में है। सम्यक् चारित्र या भावसंयम को ही कार्यकारी और साक्षात् मोक्ष का कारण बताया गया है, जबकि मिथ्या चारित्र या द्रव्य संयम को।

श्री वर्द्धमान चरित्र के कर्त्ता आचार्य श्री सकलकीर्ति तो यहाँ तक कहते हैं:—

वरं हुताशने पातो वरं हालाहलाशनम्।
अद्यो वा मज्जनं श्रेष्ठं मिथ्यात्वान्न चजीवितम्। (अध्याय २ श्लोक २३)
~~वदन्त्यन्यान्तरं दक्षा मेरु सर्षपयोरिव~~
एकतः सकलं पापं मिथ्यात्वमेकतस्तयोः।
वदन्त्यन्यान्तरं दक्षाः मेरुसर्षपयोरिव ॥ (" " ३४)

मिथ्यात्वेन समं पापं न भूतं न भविष्यति।
न विद्यते बिलीकेऽपि निश्चायार्थं निबन्धनम्(४, ४४,)
अर्थात् आग्नि में गिरना है अच्छा है, हालाहल विष का खाना उत्तम है,
और समुद्र में डूब मरना अच्छा है। किन्तु मिथ्यात्व के साथ जीवित रहना-
अच्छा नहीं। तराजू पर एक ओर सर्व पापों को रखा जाय, और दूसरी ओर
अकेले मिथ्यात्व को रखा जाय, तो दश पुरुष इनके जानों का अन्तर
मेरु पर्वत और सरसों के दाने के समान बतलाते हैं। आचार्य- मिथ्यात्व-
का पाप सुमेरु नु व्यवहार है। क्योंकि, यह मिथ्यात्व सभी अनर्थों और
आपत्तियों का मूल कारण है। मिथ्या के समान पाप न कोई अजीतव
कोई हुआ और न आगे होगा।

इन सर्व उल्लेखों में जिस मिथ्यात्व के मेरु तुल्य महा पाप
बतलाया गया है, उसकी आप अपने इस लेख में ही उपेक्षा-
कर रहे हैं; यह सब से अधिक दुःख दायी बात है।

आपको इस लेख पर बहुत सी लिखने को लिख देते हैं
पर खुले पत्र में के सब लिखना उचित नहीं केवल इतना सूचित-
करना ही पर्याप्त होगा कि आप श्रेयो मार्ग नामवाले पत्र के-
सम्पादकीय में ऐसे अश्रेयो मार्ग-वर्धक या प्रक्षिप्त लेख न लिखा
करें। चारित्तं खलु धम्मो इस गाथांश से आगे के तीन चरणों पर-
भी ध्यान देना चाहिए, यह पूरी गाथा इस प्रकार है —

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ९,०,प्रवचनसार

श्री महेशजी! इस गाथा के उत्तरार्ध के पदों का भाव समझने का
प्रयत्न कीजिए कि यहाँ मोह और क्षोभ से क्या अभीष्ट है?
आपको ज्ञात होना चाहिए कि यहाँ आचार्य का मोह से दर्शन-
मोहनीय कर्म और क्षोभ से चारित्र मोहनीय कर्म जनित परिणामों
का अभिप्राय है। जिसका भाव यह है कि दर्शन मोह और चारित्रमोह-
से रहित वीतरागता रूपी समभाव ही चारित्र कहलाता है, और वही
वीतराग चारित्र धर्म है, न कि आपके द्वारा बताया जाने वाला सम्यक्त्व रहित
मिथ्या-चारित्र धर्म है।

श्वेताम्बर के दिगम्बर रत्न द्वय के अंक में इसके समादक श्रीमद्देशभूषण जी ने अपने संपादकीय "चारित्तं खलु धम्मो" शीर्षक लेख में चारित्र की महत्ता बताते हुए कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं करना चाहिए था। पृष्ठ ३ कालम १ पैरा १ में वह लिखते हैं कि "सम्यग्दृष्टि बारह में स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता और चारित्रवान् मुनि सम्यक्त्व के अभाव में वा सम्यक्त्व के छूट जाने पर भी नव में ग्रैवेयक तक जा सकता है तो बताईये किसकी क्षमता अधिक रही?" आदि।

श्री महेन्द्रा जी को समझना चाहिए कि ऐसे सम्यक्त्व रहित या सम्यक्त्व से गिरे मुनि बनकर तो जीव अनन्त बार नवमें ग्रैवेयक तक जा चुका है, पर उससे आत्मा सिद्ध हुई है? आज तो वह दरिद्र बना हुआ ही संसार में भटक रहा है। पर जिसके हाथ में एकबार सम्यक्त्व रत्न ही आजाता है, तो वह उस भव से जाते तो बहुत ही शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करेगा। इसी बात को ध्यान में रखकर कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है—

"दंसण भट्ठा भट्ठा दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ~~ण सिज्झंति~~"
(दर्शन पाहुड़ गाथा)

अर्थात् सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। और जो आपने अपने लेख में चारित्र के गुण गाये हैं, सो चारित्र तो वही देव इन्द्रादिक कर पूज्य होता है जो कि सम्यक्त्व सहित हो। सम्यक्त्वरहित चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है, वह देवेन्द्रादि को से पूज्य नहीं है।

इसी लेख के चौथे पैरे के पहले कालम के दूसरे पैरे में लिखते हैं, देव और इन्द्र अगर किसी अज्ञानी आत्मा की सम्यग्दर्शन की पूजा करते हैं तो कोई विशेष कारण होने से करते हैं। जैसे तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती हो तो उनका परम पुण्य ही देवों द्वारा वंदना का कारण है..... आदि। सो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि परम पुण्य वही कहलाता है जो कि सम्यक्त्व सहकृत हो। अन्यथा उसे परम या सातिशय पुण्य नहीं कहा जा सकता। रही चारुदत्त सेठ की घर आदि की यक्षादि देव के द्वारा प्रसंशादि सो वह तो उसका

← ——— सराग नाम है न कि जिनदेवादि के समान पूज्य बुद्धि से
की गई स्तुति वन्दनादि है। यदि हम व्यवहार में बिल्ली की फूलमाला
अर्पित करते हैं तो वह जिनदेवादि के सदृश पूज्य मानना पड़ेगा।

लेखके अन्त में आप लिखते हैं ——— सम्यक्त्व तो
मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी ही है जैसे M.A. तक पढ़
ने वाले छात्र के लिए ए बी सी डी की क्लास। यह लिखकर तो
आपने अपने शास्त्रीय ज्ञान की पूर्ण महत्ता ही प्रकट कर दी है उनसे
इतना ही तो सिद्ध होता है कि उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्य-
यन बिल्कुल ही नहीं किया है। अन्यथा वे ऐसे हल्के फुल्के शब्द
न लिखते। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि सम्यक्त्व रहित चारित्र
मिथ्या चारित्र कहलाता है, और वह अनन्त संसार का ही बन्ध-
न बढ़ाने वाला होता है। जब कि एक कण अन्तर्मुहूर्त के लिए उत्पन्न
हुआ भी सम्यग्दर्शन अनन्त संसार का विच्छेदक या अन्त
करने वाला होता है। फिर अविरत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व अनं-
तानुबन्धी चतुष्क प्रत्याख्यान आदि बिना, नरक तिर्यंचगति-आयु आदि
महान पाप वाली ७१ प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध होता ही नहीं
है। किन्तु सम्यक्त्व रहित परमतपस्वी भी साधु उनका बन्ध
करता रहता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर कुन्दकुन्दाचार्य
जैसे महर्षियों ने कहा है ———

जं अण्णाणी कम्मं

और पं. दौलतरामजी ने उसीके भाव को इस प्रकार प्रगट किया है —
कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरे जी,
ज्ञानी के छिन माहीं त्रिगुप्ती तैं सहज टरै ते।
यहाँ अज्ञानी और ज्ञानी से अभिप्राय सम्यक्त्व रहित, और सम्यक्त्व
सहित व्यक्ति से ही है। न कि जैसा आप कह रहे हैं उससे।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी उन्हें ज्ञातव्य है कि —
अविरती, देशव्रती, सकलसंयमी ~~सकल~~ गुणस्थानवर्ती साधु के बन्ध
वाली प्रकृतियों में तो जरूर कमी पड़ती है पर बन्धने वाले कर्मों की
स्थिति के बन्ध में उन्नीसबीस जैसा ही अन्तर पड़ता है। अर्थात्
चौथे से सातवें गुणस्थान तक सभी जीवों के बन्धने वाली प्रकृतियों
का स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण ही होता है।